जैन-दर्शन वेदविरोधी नहीं

डॉ. सुषमा सिंघवी
सह आचार्या, संस्कृतविभागः
इंद्रप्रस्थ महिला महाविद्यालयः, दिल्ली

जैन-श्रमण-परम्परा तथा वैदिक-ब्राह्मण-परम्परा परस्पर विरोधी हैं, ऐसी भ्रान्त धारणा निम्नलिखित बिन्दुओं को लेकर प्रचलित है (जो निराधार है):-

1. जैन दर्शन सम्यक् श्रुत (सम्यग्दृष्टि / सम्यग्दर्शन) है और जैनेतर दर्शन मिथ्या श्रुत (मिथ्यादृष्टि / मिथ्यादर्शन) है। (नंदिसूत्र, 72 में चार वेद को मिथ्या श्रुत कहा है।)

2. श्रुति -प्रमाण अस्वीकार्य होने से जैन दर्शन नास्तिक है तथा श्रुति -प्रमाण स्वीकार्य होने से अन्य दर्शन (बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त) आस्तिक हैं।

3. प्राचीन जैन श्रमण संस्कृति अहिंसापरक है, प्राचीन वैदिक ब्राह्मण संस्कृति नहीं।

4. संसार-त्याग (संसार हेय होने से उसके प्रति पूर्ण विरक्ति) का आदर्श श्रमण संस्कृति का है, वैदिक संस्कृति का नहीं। (श्रमण संस्कृति मनःस्थिति नियंत्रण पर बल देती है और वैदिक संस्कृति परस्थिति नियंत्रण पर।)

5. वैदिक अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म और तपस्या के मूल संकेत नहीं हैं।

श्रमण संस्कृति तथा वैदिक संस्कृति के बारे में उपर्युक्त तथा इसी प्रकार की अन्य प्रचलित धारणाएँ भ्रान्त तथा निर्मूल हैं। इस भ्रान्ति के निराकरण के लिये प्राचीन जैन आगमों से कतिपय प्रमाण तथा उदाहरण प्रस्तुत करती हूँ--

1. प्राचीन जैन आगमों में वेदविद् शब्द का प्रयोग इस बात की पुष्टि करता है कि जैन- दर्शन वेदविरोधी नहीं है। आचारांग चूर्णि में कहा है कि मरणशील- मनुष्यों में नैष्कर्म्यदर्शी वेदविद् बाह्य संसार - प्रवाह का छेदन कर, कर्मों को परिणामी जानकर, उनसे (कर्मों से) मुक्त हो जाता है - "पालिच्छिंदिय बाहिरग्गं च सोयं निक्कम्मदंसी इह मच्चिएस कम्मुण सफलं दट्ठूण तओ निज्जाइ वेयवी" (आचारांगी सूत्र 4.4.261)

इसके अतिरिक्त " एवं से अप्पमाएणं विवेगं किट्टइ वेयवी" (आचारांगसूत्र 5.4.307) अर्थात् इस प्रकार, वेदविद्

अप्रमाद से विवेक का कीर्तन करता है।

वेदविद् इसे आवर्त - पुनर्जन्म जान कर इससे विरत हो जाता है - आवट्टमेयंतु पेहाए एत्थ विरमेज्ज वेयवी" (आचारांग सूत्र 5.6.328)

2. आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में लोक शब्द जीवों के आश्रय स्थान के रूप में वर्णित है - 'णेव सयं लोगं अब्भाइखेज्जा णेव अत्ताणं अब्भाइखेज्जा' (आचारांग सूत्र, 1.4.8) अर्थात् लोक और आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता है। आत्मवादी लोकसत्ता का निषेध करते हैं और लोकवादी आत्मसत्ता का निषेध करते हैं। इससे पापकर्म होता है और दोनों पापकर्म से छूटते नहीं हैं। कठोपनिषद् में भी कहा है कि लोक सत्ता नकारने से लोक में रहने वाले जीवों के अस्तित्व के विषय में गैरजिम्मेदारी सिद्ध होती है - 'अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनः वशमापद्यते' (कठोपनिषद् 1.2.6)। आत्मसत्ता नकारने पर सभी प्राणियों की हिंसा होती है।

इस दृष्टि से लोक की सत्ता स्वीकारने के कारण जैन तथा वैदिक दोनों दर्शनों को आस्तिक स्वीकारने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

गौतम गणधर के अस्तित्व - नास्तित्व विषयक संशय को दूर करने हेतु महावीर ने कहा कि जो तुम संशय करते हो कि जीव है अथवा नहीं यह संशय वेद पदों के अर्थ को भली प्रकार से नहीं जानने के कारण होता है। 'वेयपयाण य अत्थं' का प्रयोग समस्त ग्यारह गणधरों के सभी संशयों 1. जीव, 2. कर्म, 3. तज्जीव, 4. भूत, 5. बंध, 6. मोक्ष, 7. देव, 8. नरक, 9. पुण्य, 10. परलोक, 11. निर्वाण के निवारण के प्रसंग में किया गया है :-

3. त्रस और स्थावर जीवों का विभाग वैदिक काल से चला आ रहा है। त्रस का अर्थ है हलन चलन करने वाले जीव, इन जीवों में सूक्ष्म जीव हैं - अंडज, रसज (जलप्रवाह में गर्मी की विक्रिया से उत्पन्न होने वाले), स्वदेज, संमूर्च्छित (स्त्री-पुरुष समागम के बिना जन्म लेने वाले), तथा स्थूलजीव जैसे-पोतज, जरायुज, औपपातिक (मुख्यतया संसारी जीव, देव, मनुष्य इत्यादि) तथा स्थावर जीव जैसे-वनस्पति जैसे स्थिर जीव (आचार नियुक्ति, 154)।

कौषीतकि उपनिषद् 3.2 में 'सर्वे प्राणाः' कहकर प्राण शब्द का जीव के अर्थ में प्रयोग किया है। आचारांग (2.6.92) में " सव्वे पाणा पियाउया" कहकर जीवों के लिये प्राण शब्द का प्रयोग किया है।

जैन दर्शन में हिंसा के लिये पाणातिपात - प्राणातिपात शब्द प्रचलित है, प्राण शब्द में सभी जीव परिगणित हैं।

वैदिक तथा जैन आगम में वनस्पति जैसे स्थावर जीव की हिंसा का भी निषेध किया गया है, इस क्रम में वनस्पति के स्वरूप का विशिष्ट निरूपण हुआ है। यह तथ्य आचारांग (1.5.44) तथा यास्ककृत निरूक्त की तुलना से स्पष्ट है। निरुक्त

(1.2) के अनुसार - " षड्भाव विकाराः भवन्ति इति वार्ष्यायणिः जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति" | पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य (1.3.1.11) में इसका उल्लेख किया है। इन छः भावविकारों की शस्त्रपरिज्ञा के वनस्पति शस्त्र के साथ डॉ. बी. भट्ट (1996) ने इस प्रकार समानता दिखाई है :-

निरुक्त 1.2 (वाययणि) आचारांग शस्त्रपरिज्ञा 5.44

1.	जायते	जातिधम्मयं
2.	अस्ति	?
3.	विपरिणमते	विपरिणामधम्मयं चयोवचइयं
4.	वर्धते	वुड्ढधम्मयं
5.	अपक्षीयते	छिण्णं मिलाति
6.	विनश्यति	अणितियं असासियं

आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा के पंचम उद्देश्य में वनस्पति की जीवंतता स्पष्ट परिलक्षित है। प्राचीन वैदिक साहित्य में हिन्दू दृष्टि में भी वनस्पति में अन्तःकरण और इन्द्रिय प्रत्यक्ष की क्षमता मान कर वनस्पति काटने में हिंसा मानी गई है - 'वर्जयेद् बीजवधम्' (गौतमधर्मसूत्र, 3.22)।

जैन तथा हिन्दू दोनों मान्यताओं में वनस्पतिच्छेदन निषेध किया गया है, जिससे स्वयं वनस्पति तथा आश्रित जीवों की हिंसा न हो।

4. आचारांग के चतुर्थ अध्ययन में श्रमण और ब्राह्मण शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं - " समणा य माहणा य....." (आचारांग, 4.2.238)।

वैदिक काल में ब्राह्मण, श्रमण, परिव्राजक आदि अनेक प्रकार के अणगार (संसार / गृहत्यागी) मुनि विहार करते रहते थे। उनकी चर्या प्रायः समान होती थी। वे संसार त्यागी, तप और व्रत द्वारा आत्मज्ञान अथवा मुक्ति के मार्ग को अपनाते थे। जैन और बौद्ध साहित्य में श्रमण-ब्राह्मण नाम का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है।

उत्तरकालीन जैन आगमों में अनेक स्थलों पर महावीर के लिये ब्राह्मण शब्द तथा अनेक बार श्रमण शब्द का प्रयोग हुआ है। प्राचीन जैन आगम तथा वैदिक उपनिषद् ग्रन्थों की शब्दावली का साम्य यह सिद्ध करता है कि जैन-बौद्ध-जैनेतर

ग्रन्थों में नास्तिक आस्तिक जैसा कोई विरोध वास्तव में नहीं है।

आचारांग सूत्र के 'शस्त्रपरिज्ञा' अध्ययन में 'गुण' से अगुत्त-अगुप्त-असंरक्षित रहते हैं, उन गुणों से आकृष्ट होकर भ्रमित होते हैं और प्रमत्त होकर गुणों में आसक्त (रचे) रहने का नाम हिंसा - दंड है-

"जै पमत्ते गुणट्ठिए से हु दंडे त्ति पवुच्चइ" (आचारांग 1.4.31)। जो गुण है वह आवर्त- जन्ममरण का घेरा है-" जे गुणे से आवट्ट जे आवट्ट से गुणे" (आचारांग 1.5.39)।

आचारांग लोकविचय नामक द्वितीय अध्ययन में बताया है, कि अज्ञानी जन्मरण के फेरे में अटका रहता है- 'जाइमरणं" अणुपरियट्टमाणे..(आचारांग 2.86)। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी ऐसी परिभाषाएँ मिलती हैं जिसमें संसार के वर्णन के लिये योनि (कारण), स्रोत, आवर्त, ओध, पर्व (ग्रंथि-गांठ, बंधन), गुण जैसे शब्द युक्त हुए हैं जैसे - " पंचावर्तां..... । अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे" (श्वेताश्वतर उपनिषद्, 1.5.6) । इसी प्रकार 'आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि.... (श्वेताश्वर उपनिषद्, 6.4) आदि "।

सारांश यह है कि प्राचीन साहित्य तथा प्राचीन जैन साहित्य के आलोडन से स्पष्ट हो जाता है, कि जैनदर्शन वेदविरोधी नहीं है।

संदर्भ

1. अंगपविट्ठ सुत्ताणि, पढमो सुयखंधो, (सम्पा.) डोशी एवं चण्डालिया, अखिल भारतीय जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म.प्र.), 1979

2. आवश्यक निर्युक्ति, भाग 1, श्री भेरुलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई, वि.सं. 2038

3. लुप्तप्राय आदिकालीन जैन तत्वज्ञानना गूढ संकेतो; बंसीधर भट्ट, गुजरात विधानसभा, बी. जे. अध्ययन संशोधन विद्याभवन, अहमदाबाद, 1996|